फिल्म समीक्षा

'थ्री इडियट्स': क़ामयाब होने का नया मन्त्र–'क़ाबिल बनो!'

लेकिन जनाब आमिर जी और जनाब हीरानी जी! इस समाज में क़ाबिलियत और क़ामयाबी दोनों बिकाऊ माल है!

● शिवार्थ

हाल ही में आमिर ख़ान, आर. माधवन, करीना कपूर, व शरमन जोशी अभिनीत फ़िल्म 'थ्री ईडियट्स' आयी और इसने क़ामयाबी के सारे रिकॉर्ड तोड़ डाले! वाक़ई काफ़ी क़ाबिल फ़िल्म थी! इस फ़िल्म को देखकर ऐसा प्रतीत हुआ कि या तो राजकुमार हीरानी और आमिर ख़ान इस बीच कपिल सिब्बल से मिलते रहे हैं, या फ़िर कपिल सिब्बल फ़िल्म बनाने से पहले दोनों की क्लास ले चुके थे! फ़िल्म सम्पादन के लिहाज़ से अच्छी बन पड़ी है और कहानी गति के साथ चलती है इसलिए बाँधे रखती है। ऐसे में फ़िल्म का गहरा प्रभाव तो पड़ना ही था। साथ ही, फ़िल्म कहीं पर कोई तनाव नहीं देती, इसलिए इसे सफल भी होना ही था। मल्टीप्लेक्स जाने वाले वर्ग के नौजवानों के लिए फ़िल्म में उठायी गयी समस्या वाक़ई मायने रखती है इसलिए फ़िल्म को हिट तो होना ही था।

यह फ़िल्म कहानी है तीन नौजवानों की जो अलग-अलग पृष्ठभूमियों से दिल्ली के एक इंजीनियरिंग कॉलेज में आते हैं जो देश का नम्बर एक इंजीनियरिंग कॉलेज है। इस कॉलेज का डायरेक्टर वीरू सहस्रबुद्धे एक सनकी तानाशाह है और पक्का सामाजिक डार्विनवादी भी, जिसका मानना है कि ज़िन्दगी एक रेस है, अगर तेज़ नहीं भागोगे तो पीछे वाला तुम्हें रौंदकर आगे बढ़ जाएगा। वह पूरे कॉलेज के छात्रों पर पढ़ाई का ऐसा दबाव निर्मित कर देता है कि सभी छात्र ज़बरदस्त दबाव में जीते हैं। ऐसे में वहाँ 'बहती हवा'-सरीखे रणछोड़ दास श्यामलदास चांचड़ उर्फ़ रैंचो (आमिर ख़ान) का प्रवेश होता है। रैंचो आते ही सभी नियम-क़ायदों की धज्जियाँ उड़ाना शुरू कर देता है, चाहे वे सीनियर छात्रों द्वारा स्थापित हों या फिर स्वयं संस्थान के निदेशक द्वारा। देखते-देखते वह छात्रों का चहेता बन जाता है। फ़रहान क़ुरैशी (आर. माधवन) और राजू रस्तोगी (शरमन जोशी) उसके दोस्त कम और भक्त ज़्यादा बन जाते हैं, हालाँकि यह प्रक्रिया थोड़ी उबड़-खाबड़ होती है। रैंचो का मन्त्र होता है 'आल इज़ वेल' यानी 'सब ठीक है'। अपने इस मन्त्र से वह देखते-ही-देखते जटिल से जटिल समस्याओं का समाधान चुटकियों में कर देता है (चाहे वह दोस्त को फ़ोटोग्राफ़र बना देने का सवाल हो, या नौकरी दिला देने का या फिर किसी लड़की की ज़िन्दगी किसी बेवकूफ़ क़िस्म के कारपोरेट स्लेव से बचाने का या फिर वह अस्पताल न पहुँच पाने की सूरत में किसी गर्भवती महिला का बच्चा पैदा कराने का! बस आपको बोलना है - 'आल इज़ वेल', और आपकी समस्याएँ चुटकियों में हल!

यह फ़िल्म शुरुआत करती है इंजीनियरिंग कॉलेजों व अन्य पेशेवर पाठ्यक्रम चलाने वाले संस्थानों में छात्रों के ऊपर मौजूद विभिन्न प्रकार के दबावों के असर से। हमें दिखलाया जाता है कि किस तरह से परिवारवालों का दबाव, पीयर प्रेशर, समाज में कुछ बनकर दिखाने का दबाव, पैसा कमाकर लाने का दबाव एक नौजवान को शिक्षित नहीं होने देता। शिक्षित होने का अर्थ है वाक़ई ज्ञानी बनना और अपने ज्ञान को व्यवहार में लागू कर पाने की क्षमता हासिल करना। आज की शिक्षा व्यवस्था हमें क़ाबिल और शिक्षित बने बग़ैर किसी भी तरह से रटकर, घोंटकर कामयाब बन जाने का रास्ता दिखलाती है। ख़ासतौर पर इंजीनियरिंग कॉलेजों में ऐसा ही होता है। इस बात का भी मज़ाक उड़ाया गया है कि इंजीनियरिंग करने के बाद लोग प्रबन्धन की पढ़ाई करते हैं और फिर किसी ऐसी नौकरी में लग जाते हैं जहाँ न तो उनकी इंजीनियर होने की क़ाबिलियत काम आती है और न ही प्रबन्धक होने की। फ़िल्म में एक छात्र द्वारा आत्महत्या के प्रकरण से इस दबाव की गम्भीरता को दिखलाने का प्रयास किया गया है। लेकिन आप ज़्यादा समय तक गम्भीर नहीं रहते। फ़िल्म आपको इस बात की इजाज़त नहीं देती। उस छात्र (जॉय) की मौत के प्रकरण के कुछ फ़्रेम बाद ही फ़िल्म अपनी शैली पर वापस लौट आती है। इंजीनियरिंग और पेशेवर पाठ्यक्रमों के शिक्षण-प्रशिक्षण के तरीक़ों पर टिप्पणी करते हुए यह फ़िल्म कहती है कि यह शिक्षण नहीं है बल्कि प्रशिक्षण है। प्रशिक्षण तो एक जानवर को भी करतब करना सिखा देता है। नवोन्मेष, आविष्कार और रचनात्मकता का इस प्रशिक्षण से कोई रिश्ता नहीं है। पहले इन्सान को शिक्षित होना चाहिए और फिर प्रशिक्षित। जहाँ तक वैज्ञानिक शिक्षा पद्धति का सवाल है, इस बात में कुछ भी ग़लत प्रतीत नहीं होता। मौजूदा शिक्षा व्यवस्था और विशेषकर पेशेवर पाठ्यक्रमों के शिक्षण-प्रशिक्षण के तौर-तरीक़ों की आलोचना का इसे एक अच्छा प्रयास कहा जा सकता है। हमारे मानव संसाधन विकास मन्त्री ऐसी ही आलोचनाएँ तमाम सार्वजनिक मंचों पर पिछले 1 वर्ष से लगातार रखते आ रहे हैं। चाहे वह दसवीं की परीक्षा को वैकल्पिक बनाने का सवाल हो, या फिर अंकों के बजाय ग्रेड व्यवस्था लागू करने का सवाल हो, इन सबमें सिब्बल साहब की भी यही चिन्ता नज़र आती है - बच्चों पर से दबाव हटाओ! ठीक बात है। लेकिन

पहला सवाल यह है कि क्या यह हमारे समाज और उसकी शिक्षा पद्धति का प्रातिनिधिक यथार्थ है? जिस देश में 77 प्रतिशत आबादी 20 रुपये प्रतिदिन या उससे कम की आय पर गुज़र-बसर कर रही हो (जिस समाज में 46 प्रतिशत बच्चे कुपोषण और भुखमरी का शिकार हों (जिस देश में उच्च शिक्षा तक पहुँचने वालों की संख्या कुल योग्य आबादी का 7 प्रतिशत हो (वहाँ इंजीनियरिंग कॉलेजों में पहुँचने वालों के लिए शिक्षा व्यवस्था की ग़लत पद्धति का सवाल प्रातिनिधिक सवाल नहीं हो सकता। आज प्रातिनिधिक सवाल तो यह है कि उच्च शिक्षा के लिए योग्य कुल आबादी का महज़ 7 प्रतिशत ही क्यों उच्च शिक्षा हासिल कर पाता है? पेशेवर पाठ्यक्रमों तक इस योग्य आबादी का अगर 1 प्रतिशत भी नहीं पहुँच पा रहा है तो ऐसा क्यों है? क्या बाक़ी सभी अयोग्य और नाकारे हैं? नहीं, निश्चित तौर पर नहीं। कारण यह है कि मुनाफ़ा-केन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था कभी योग्यता की सही पहचान कर ही नहीं सकती है। छाँट दिये गये लोग पारम्परिक विश्वविद्यालय शिक्षा को अपनाने पर मजबूर होते हैं और जो विश्वविद्यालय की शिक्षा का भी ख़र्च नहीं उठा पाते वे आई.टी.आई.-पॉलीटेक्निक में दाख़िला लेकर कुशल मज़दूरों की बेरोज़गार जमात में शामिल हो जाते हैं और जो वहाँ तक भी नहीं पहुँच पाते वे आठवीं-दसवीं के बाद शिक्षा छोड़ रोज़ी-रोटी कमाने की जद्दोजहद में लग जाते हैं। और इसके बाद बचने वाली आबादी अशिक्षा के अन्धकार में भटकने को मजबूर होती है और यही बहुसंख्यक आबादी है। इस मामले में फ़िल्म एक ख़तरनाक बात करती नज़र आती है। आमिर ख़ान (रैंचो) हॉस्टल में लड़कों के लिए कपड़े इस्तरी करने, अण्डा-दूध आदि लाने का काम करने वाले एक बच्चे को सुझाव देते हैं कि पढ़ने के लिए पैसों या स्कूल में दाख़िले की ज़रूरत थोड़े ही होती है! बस यूनीफ़ॉर्म की ज़रूरत होती है! यूनीफ़ॉर्म पहनकर किसी भी कक्षा में बैठ जाइये और ज्ञान हासिल कीजिये जो यहाँ-वहाँ बँट रहा है! जब पकड़े जाइये तो यूनीफ़ॉर्म और स्कूल बदल दीजिये! ऐसे 'रचनात्मक सुझावों' से यह फिल्म इस बात को गोल कर जाती है कि शिक्षा देना राज्य का कर्त्तव्य है और अगर वह ऐसा नहीं करता तो उसे कठघरे में खड़ा किया जाना चाहिए। अगर आप नहीं पढ़ पा रहे तो यह तो आपमें रचनात्मकता की कमी है कि आपके दिमाग़ में ऐसा आइडिया नहीं आया। अगर इस देश के 50 फ़ीसदी बच्चे यही युक्ति अपनाने लगें तो क्या होगा इसकी कल्पना का काम हम फ़िल्म के निर्देशक पर छोड़ देते हैं! लेकिन फ़िल्म किसी भी क़ीमत पर सरकार और व्यवस्था को निशाना नहीं बनाना चाहती। वह बस इंजीनियरिंग कॉलेज में शिक्षा की पद्धति की आलोचना करती है, वह भी बिना किसी निश्चित उद्देश्य और नतीजे के। शिक्षा व्यवस्था की अपनी इस आलोचना के बावजूद इस फ़िल्म का इस देश की बहुसंख्यक युवा आबादी की समस्या से कोई सरोकार नहीं है। यह उच्च मध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय नौजवानों में से उनकी पीड़ा की बात करती है जो खींचतानकर इंजीनियरिंग कॉलेजों जैसी कुलीन जगहों पर पहुँच पाते हैं और समाज, परिवार और साथियों के दबाव तले दब जाते हैं।

दूसरा सवाल इससे भी अहम है। पूँजीवादी शिक्षा व्यवस्था की ऐसी आलोचनाएँ पूँजीवाद को मज़बूत करने का ही काम करती हैं क्योंकि वह पूरी व्यवस्था का सवाल नहीं उठातीं। ऐसी आलोचनाएँ पूँजीवादी व्यवस्था के वर्चस्व (हेजेमनी) को पूर्ण बनाने का ही काम करती हैं। पूँजीवादी व्यवस्था अपने सांस्कृतिक और वैचारिक माध्यमों के ज़रिये अपनी ही आलोचना करवाती हैं। ऐसा स्वत:स्फूर्त तरीक़े से होता है। इसके लिए किसी मन्त्री को किसी फ़िल्म निर्देशक, संगीतकार या चित्रकार की क्लास लेने की ज़रूरत नहीं पड़ती है। यही वर्चस्व की पूरी मशीनरी का ढाँचा होता है। उसकी फ़ंक्शनिंग काफ़ी हद तक स्वायत्त हो जाती है। उसमें हमेशा राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती। नागरिक समाज (सिविल सोसायटी) में मौजूद राजसत्ता के सामाजिक अवलम्ब इस काम को स्वयं ही अंजाम देते हैं। सुधारवाद इन कामों को अंजाम देने की ही एक विचारधारा है। आमिर ख़ान की पिछली कुछ फ़िल्में और राजकुमार हीरानी की मुन्नाभाई सीरीज़ इन्हीं कामों को अंजाम देती हैं। इन फ़िल्मों का काम एक सेफ़्टी वॉल्व का होता है। इन्हें देखकर दर्शक का अवचेतन मस्तिष्क अपने सबवर्सिव (परिवर्तनकारी और रचनात्मक रूप से विध्वंसक) दबाव को एक हद तक खो देता है। हमें लगता है कि 'हाँ दिक्कतें तो हैं ही! व्यवस्था भी आत्मालोचनात्मक है। वह प्रयास कर तो रही है कमियों को दूर करने का। लेकिन देखिये, एक दिन में परिवर्तन तो नहीं हो सकता न! इसलिए इसी सुधार की प्रक्रिया को सघन बनाने का प्रयास किया जाय!' लेकिन ऐसे सभी प्रयास इसी व्यवस्था की उम्र को लम्बा करते हैं। आत्मस्वीकार और आत्मालोचना से समस्या दूर नहीं होती है। लेकिन लोगों के दिमाग़ में इस व्यवस्था के संवेदनशील होने का भ्रम ज़रूर पलने लगता है। चाहे वह कपिल सिब्बल का शिक्षा व्यवस्था की कमियों पर स्यापा हो या 'थ्री ईडियट्स' जैसी फ़िल्मों की दंत-नखविहीन आलोचना - इन सबका मक़सद व्यवस्था के वर्चस्व को बढ़ाना है। लोगों के दिमाग़ से शासन करने की सहमति (कंसेण्ट) व्यवस्था महज़ चुनावों के ज़रिये नहीं लेती, बल्कि इसके अधिक कारगर और दूरगामी माध्यम कलात्मक होते हैं। न तो कपिल सिब्बल और न ही आमिर ख़ान या राजकुमार हीरानी इस शिक्षा व्यवस्था में निहित गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा को दूर कर सकते हैं। इसका सवाल पूरी व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। जिस समाज और व्यवस्था में हम जी रहे हैं उसका सिद्धान्त ही सामाजिक डार्विनवाद है। यानी, श्रेष्ठतम की उत्तरजीविता (सर्वाइवल ऑफ़ दि फ़िटेस्ट)। और कहने की ज़रूरत नहीं है कि श्रेष्ठतम की श्रेष्ठता आनुवांशिक नहीं है बल्कि बाज़ार में बिकती है। यहाँ सबकुछ बाज़ार में बिकता है। कामयाबी भी और क़ाबिलियत भी। आप उसे अलग-अलग भी ख़रीद सकते हैं और एक साथ भी। मुख्य सवाल 'परचेज़िंग कैपेसिटी' का होना है।

चलते-चलते फ़िल्म तमाम चीज़ों पर टिप्पणी करती है। इसमें वीरू सहस्रबुद्धे (बोमन ईरानी) का चरित्र बार-बार इस व्यवस्था की सच्चाई को उजागर करता है। लेकिन वह इस

फ़िल्म का प्रति-सन्देश (एण्टी मैसेज) है। मिसाल के तौर पर, उसका यह कहना कि ज़िन्दगी एक रेस है और तेज़ नहीं दौड़ोगे तो पीछे वाला तुम्हें कुचलकर आगे निकल जाएगा। जी हाँ, यह पूँजीवादी समाज में जीवन का सच है। आगे निकलना ही प्रमुख है, सही तरीक़ों से या ग़लत तरीक़ों से। इंजीनियरिंग कॉलेज में चुने जाने को भी वह सही रूपक से समझाता है। कोयल का बच्चा दूसरे पक्षी के घोसले में जन्म लेता है और पैदा होते ही वह उस पक्षी के अण्डों को गिरा देता है। जीवन हत्या के साथ शुरू होता है। विभिन्न प्रजातियों के संघर्ष में उपयुक्ततम और श्रेष्ठतम ही जीवित बचते हैं। लेकिन पूँजीवाद विभिन्न प्रजातियों के बीच के संघर्ष को मानव प्रजाति के भीतर ही लागू करके श्रेष्ठ और उपयुक्त को एक अलग प्रजाति बना देता है और कम श्रेष्ठ और कम उपयुक्त को एक अलग प्रजाति और उनके बीच एक गलाकाटू प्रतियोगिता आयोजित कराता है। डार्विन का सिद्धान्त इण्टर-स्पिशीज़ विश्लेषण के लिए है, इण्ट्रा-स्पिशीज़ विश्लेषण के लिए नहीं। लेकिन पूँजीवाद उसका यही प्रयोग कर सकता है। यही पूँजी का नियम होता है। बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है। यह तो हम सभी जानते हैं कि श्रेष्ठता बाज़ार में बिकती है, आनुवांशिक नहीं होती। ओलम्पिक में स्वर्ण पदक विजेता अभिनव बिन्द्रा ने इस बात को बहुत सही तरीक़े से बतलाया था। बिन्द्रा ने कहा था कि उनके प्रशिक्षण पर करोड़ों रुपये ख़र्च किये गये इसलिए वह इतने क़ाबिल शूटर बन पाए। अगर देश के तमाम युवाओं को ऐसा प्रशिक्षण मिले तो फिर भारत ओलम्पिक की पदक तालिका में पहले स्थान पर भी पहुँच सकता है। लेकिन ज़ाहिरा तौर पर एक पूँजीवादी व्यवस्था और समाज में यह सम्भव नहीं है। वीरू सहस्रबुद्धे फिल्म में एक अलग जगह एक और सही बात कहता है। वह फ़रहान और राजू रस्तोगी को अपने कमरे में बुलाकर बताता है कि तुममें से एक मध्यवर्ग से आता है और एक निम्न मध्यवर्ग से। तुम लोगों के लिए यह चिन्ता का विषय है। इसलिए रैंचो की 'आल इज़ वेल' की फ़िलॉसफ़ी तुम अफ़ोर्ड नहीं कर सकते। तुम्हारे लिए सबकुछ ठीक नहीं है। लेकिन रैंचो फ़िल्म का हीरो है, इसलिए उसका दर्शन ग़लत कैसे हो सकता है! अन्त में, राजू रस्तोगी को एक मेधावी छात्र न होने के बावजूद और अपने इंजीनियरिंग कॉलेज से कुछ समय के लिए निकाले जाने के बावजूद एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी में नौकरी मिल जाती है। बहुराष्ट्रीय कम्पनी का इण्टरव्यू बोर्ड तो एकदम फ़रिश्तों जैसा है! वह राजू रस्तोगी की सच्चाई और ईमानदारी पर फ़िदा हो जाता है! अब जिन्होंने कारपोरेट दुनिया के धनपशुओं को देखा है, वे अच्छी तरह से जानते हैं कि वास्तव में वैसा साक्षात्कार देने के बाद राजू रस्तोगी के साथ कैसा सलूक़ किया जाता! दूसरी तरफ़, फ़रहान क़ुरैशी इंजीनियर नहीं बनना चाहते और वह जो बनना चाहते हैं बन जाते हैं! नहीं बनते तो बाबा रणछोड़दास का दर्शन ग़लत न हो जाता? सो, फ़िल्म में तो यह होना ही था! लेकिन हम सभी जानते हैं कि वास्तविक जीवन में ऐसा होता तो समाज के युवाओं में इतनी निराशा और हताशा का माहौल न होता।

फ़िल्म ग़रीबी और जेण्डर के सवालों को लेकर काफ़ी असंवेदनशीलता का प्रदर्शन भी करती है। राजू रस्तोगी (शरमन जोशी) एक तबाह निम्न मध्यवर्गीय परिवार से आता है। उसके परिवार के माहौल का चित्रण बेहद असंवेदनशीलता के साथ किया गया है। उसके परिवार का दृश्य आते ही फ़िल्म ब्लैक एण्ड व्हाइट में तब्दील हो जाती है। उसके लकवाग्रस्त रिटायर्ड बाप से लेकर, उसकी ग़रीबी से तंगहाल माँ, और निरुद्देश्य जीवन जीती और शादी की उम्र को लाँघती उसकी बहन तक – हर सदस्य का मज़ाक़ उड़ाया जाता है। मानो, यह ग़रीबी कोई मुद्दा ही न हो! लेकिन यह इस समाज की सबसे बड़ी और वास्तविक समस्या है। लेकिन निर्देशक महोदय तो शिक्षा व्यवस्था को ही दुरुस्त कर देने पर तुले हुए हैं। साथ ही, यह भी दिखलाया गया है कि ग़रीब गन्दे होते हैं। राजू रस्तोगी की माँ जिस बेलन से बिस्तर पर पड़े बाप को खुजली करती है उसी से रोटी बेलकर अपने बेटे के दोस्तों को खिलाती है। और साथ ही, सब्ज़ियों आदि के बढ़ते दाम के बारे में उन्हें सुनाती भी रहती है। आनुभविक तौर पर यह पाया गया है कि ग़रीब जो खिलाते हैं दिल से खिलाते हैं और प्यार से खिलाते हैं। ये अमीर होते हैं तो मेज़बानी करते समय भी कौड़ी-छदाम गिनते रहते हैं। अपनी शान के लिए शाहख़र्ची कर दें तो कर दें, लेकिन दिल से स्वागत करना और मेज़बानी करना ग़रीबों की फ़ितरत होती है, अमीरों की नहीं। लेकिन फ़िल्म में एक ग़रीब परिवार का जिस तरीक़े से चित्रण किया गया है वह किसी को भी पूर्वाग्रहित कर देगा।

एक अन्य जगह फ़िल्म में एक पढ़ाकू और तोतारटन्त करने वाले छात्र को इंजीनियरिंग कॉलेज के एक समारोह में अतिथियों के लिए स्वागत वक्तव्य पढ़ना होता है। यह भाषण हिन्दी में होता है और वह छात्र दक्षिण का होने के कारण हिन्दी नहीं समझता और भाषण को कॉलेज के लाईब्रेरियन से रोमन लिपि में लिखवाकर रट लेता है। आमिर ख़ान भाषण की स्क्रिप्ट में हर जगह 'चमत्कार' की जगह 'बलात्कार' और 'धन' की जगह 'स्तन' को रख देता है। इसके बाद वह पूरा भाषण ही मज़ाक़िया बन जाता है। हालाँकि, यह रटन्त पद्धति और इंजीनियरिंग कॉलेज का मज़ाक उड़ाने के लिए किया गया था, लेकिन 'एब्सर्ड ह्यूमर' के इस प्रयोग में एक असंवेदनहीनता नज़र आती है। फिर पूरी फ़िल्म में बलात्कार और स्तन को तमाम चीज़ों के लिए रूपक बनाया जाता है, जो स्त्रियों के प्रति संवेदना की कमी को दिखलाता है। अगर पूरा दर्शक वर्ग इस हास्य की समस्त अर्थच्छायाओं (नुआंसेज़) और परिरेखाओं (कॉण्टुअर्स) को समझने योग्य होता तो कम-से-कम इस हास्य बोध पर बहस हो सकती थी। लेकिन भारतीय फ़िल्मों ने भारतीय दर्शकों की ऐसी योग्यता आज तक विकसित नहीं की है। उन्हें आज तक हास्य के नाम पर भोंड़ापन, अश्लीलता, सौन्दर्यबोध रहित चुटकुले परोसे गये हैं और इन सबने उनके हास्यबोध को जिस रूप में आकार दिया है, उसके बूते तो वे फ़िल्म द्वारा पेश किये गये इस 'एब्सर्ड ह्यूमर' को ऐसे-ऐसे रचनात्मक रूप में ग्रहण (पर्सीव) कर सकते हैं, धारणा-रूप

(शेष पृष्ठ 54 पर)

अधिक औद्योगिक विकास दर्ज किया। एक ऐसे देश में जहाँ आर्थिक-सामाजिक ढाँचा मुनाफ़े के बजाय लोगों की ज़िन्दगी को बेहतर और अधिक विविधतापूर्ण बनाने पर केन्द्रित था, वहाँ लोग अपनी मेहनत को अपनी ज़िन्दगी देश और समाज में रूपान्तरित होते देख सकते थे।

केवल एक ऐसे देश की जनता ही इतनी भारी क़ुर्बानियाँ देकर अपनी धरती व समस्त मानवता की रक्षा करने का जज़्बा और माद्दा रख सकती थी। युद्ध के दौरान सोवियत जनता ने आर्थिक ढाँचे ख़ासकर भारी उद्योगों को सँभाल कर संघर्षरत सोवियत सेना को कोई कमी नहीं आने दी। अपनी मेहनत से सींचे व निर्मित किये गये सोवियत राज्य की रक्षा करने के लिए छात्रों-नौजवानों, महिलाओं, मज़दूरों, किसानों द्वारा दी गयी क़ुर्बानियों के चित्रण और वीर गाथाएं अक्सर रूसी उपन्यासों में भी मिल जाया करते हैं। अतीत को बदलना तो इन्सानी सीमाओं से बाहर है, लेकिन इतिहास की एक झूठी तस्वीर पेश करने और स्मृतियों को नज़रों से ओझल करने के हरसम्भव प्रयास पूँजीवाद करता रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के इतिहास और सोवियत योगदान को लेकर भी कुछ ऐसा ही रूख देखने को मिलता है। अमेरिका द्वारा लम्बे समय से, फैलायी जा रही धारणा के अनुसार फ़ासीवाद को हराने में सबसे निर्णायक भूमिका 1944 में खोले गये ब्रिटेन-अमेरिका के दूसरे मोर्चे की थी। फ़ासीवाद पर विजय के 65 साल पूरे होने पर हाल ही में फ़्रांस में एक समारोह आयोजित किया गया। अपने वक्तव्यों में फ़्रांस के राष्ट्रपति निकोलस सरकोज़ी, ब्रिटेन के गार्डन ब्राउन और कनाडा के स्टीफ़न हार्थर ने सोवियत रूस का नाम भी न लेते हुए द्वितीय विश्वयुद्ध का एक लम्बा इतिहास पेश कर दिया। ओबामा भी महज़ इतना कहकर पीछे हट गये कि सोवियत रूस ने फ़ासीवाद विरोधी मोर्चे का कुछ भार तो उठाया लेकिन हिटलर को हराने का श्रेय तो पश्चिमी ताक़तों के दूसरे मोर्चे को ही जाता है, जिसके कारण नात्सी सेना दो मोर्चों पर बँटकर कमज़ोर पड़ गयी। वैसे इस प्रकार की धारणाऐं अमेरिका व कई अन्य पूँजीवादी देशों के पाठ्यक्रमों में भी प्रचलित हैं। सच तो यह है कि 1944 में दूसरा मोर्चा खुलने तक सोवियत फ़ौजों ने अकेले दम पर हिटलर को यूरोप से पीछे धकेल इतना कमज़ोर कर दिया था कि अमेरिकी-ब्रिटिश हस्तक्षेप के बिना भी फ़ासीवाद की हार तय थी। लम्बे समय से दूसरा मोर्चा खोलने के स्तालिन के प्रस्ताव को अनसुना करने के पीछे का मक़सद सोवियत रूस को युद्ध में नुक़सान उठाकर अधिक से अधिक कमज़ोर करना था। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल ने एक पुस्तक में माना है कि दूसरे मोर्चे को देरी से खोलने का मक़सद यूरोप में समाजवाद को फैलने से रोकना था।

इतिहास को तोड़ने-मरोड़ने में भूतपूर्व समाजवादी पूर्वी यूरोपीय देश भी पीछे नहीं हैं। यहाँ मीडिया और पाठ्यक्रमों में इतिहास की नयी व्याख्याएँ पेश की जा रही हैं। दुनिया को फ़ासीवाद से मुक्त कराने और समाजवादी दौर की प्रगति को भुलाकर आज सोवियत सैनिकों के युद्ध स्मारकों को गिराया जा रहा है। फ़ासीवादी सेना के मददगारों को यूक्रेन व बाल्टिक राज्यों में 'वॉर वेटरन' सम्मान प्राप्त हो रहा है। पूँजीवादी देशों ने बुद्धिजीवियों की पूरी फ़ौज को भी इतिहास के पुनः लेखन का काम सौंप दिया है।

हर शोषक निज़ाम सच्चाई से डरता है। इतिहास और विज्ञान को तोड़मरोड़ कर पेश कर पूँजीवाद अपने अस्तित्व का बार-बार औचित्य साबित करता रहा है। शहादतों को जनता की स्मृति पटल से ओझल करना भारतीय पूँजीवाद की भी पुरानी आदत रही है।

लेकिन बुद्धिजीवियों द्वारा फैलाई गई धुन्ध मीडिया के दुष्प्रचार के बावजूद सच्चाई पर पूरा परदा नहीं डाला जा सकती। शोषक वर्गों की लाख कोशिशों के बाद भी सोवियत जनता की क़ुर्बानियाँ आज दुनियाभर के मेहनतकश व क्रान्तिकारी शक्तियों के लिए प्रेरणास्रोत बनी हुई हैं। मानव सभ्यता को बचाने और आगे ले जाने के सोवियत शहीदों को श्रद्धांजलि देने के साथ ही हम अपने देश के छात्रों-नौजवानों व मज़दूरों को हिटलर-मुसोलनी की देशी जारज औलादों और फ़ासीवाद के नये रूपों के ख़िलाफ़ आज से संगठित होने का आह्वान भी करते हैं।

– **कुणाल**

थ्री इडियट्स...

(पृष्ठ 57 से आगे)

(कंसेप्चुअलाइज़ेशन) दे सकते हैं और व्याख्यायित कर सकते हैं, जिसकी कल्पना *शायद* कहानीकार, पटकथा-लेखक, निर्देशक और आमिर ख़ान जैसे सचेत कलाकार ने न की हो!

लेकिन यह प्रमुख मुद्दा नहीं है। मुख्य बात यह है कि कुल मिलाकर यह फ़िल्म शिक्षा व्यवस्था की एक सुधारवादी आलोचना करती है और वह भी बिना किसी ऑपरेटिव पार्ट के। इसका लक्षित दर्शक वर्ग उच्च वर्ग, उच्च मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग की हैसियत हासिल करने का सपना पाले आम और निम्न मध्यम वर्ग के लोग हैं। इसकी पहुँच किसी भी रूप में इस देश के आम ग़रीब लोगों तक नहीं है। इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जिससे इस देश की 85 फ़ीसदी आबादी कोई जुड़ाव महसूस करे। अपनी इस सुधारवादी आलोचना के ज़रिये यह फ़िल्म वही बात करती है जो राजनीतिक मंचों से कपिल सिब्बल करते हैं। इसका कार्य (अगर मकसद नहीं तो) इस व्यवस्था के सांस्कृतिक और वैचारिक वर्चस्व को उन वर्गों के नौजवानों के दिमाग़ में मज़बूत करना है जिन वर्गों के नौजवान इस व्यवस्था को आमूल रूप से बदलने और उसके लिए आम मेहनतकश वर्गों के संघर्ष के साथ जुड़ने के बारे में सोच सकते हैं। इसके और ऐसी तमाम फ़िल्मों के बारे में आलोचनात्मक रूप से सोचना आज बेहद ज़रूरी है क्योंकि इस व्यवस्था के वैचारिक-सांस्कृतिक वर्चस्व का विखण्डन इसके बग़ैर नहीं हो सकता।